हँसे कि फँसे!

मनबहकी लाल

देश हँस रहा है। पार्कों में 'लाफ़्टर क्लब' और 'लाफ़्टर योगा' वाले ताली पीट-पीटकर हँस रहे हैं। 'आस्था' चैनल पर बाबा रामदेव हँस रहे हैं। न सिर्फ़ मनोरंजन बल्कि समाचार चैनलों पर भी हँसने का बाज़ार गर्म है - कहीं 'लाफ़्टर के फटके' हैं तो कहीं 'हँसी का तड़का' या फिर 'कॉमेडी का डेली डोज़'।

इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में अपराध, तन्त्र-मन्त्र और स्त्री-विरोधी (चाहे वे सास-बहू के सीरियल्स हों या अश्लील यौन हिंसामूलक, स्त्री का पण्यकरण करने वाले गीत-गाने और अन्य कार्यक्रम) कार्यक्रमों के साथ सबसे गर्म बाज़ार हँसने-हँसाने का है। ग़ौरतलब है कि हँसने-हँसाने का विषय भी प्राय: स्त्री ही होती है - उसकी "बेवफ़ाइयाँ," उसकी "बेवकूफ़ियाँ-चालाकियाँ" या उसका "फूहड़पन"। जो समाज उत्पीड़ितों, और बेबसों-मज़दूरों पर हँसता है, जो दबे-कुचलों की खिल्ली उड़ाता है, उस समाज के ताने-बाने में मानवतावाद और जनवाद के रेशे-धागे काफ़ी कम होते हैं। याद कीजिए, गाँवों की नाच-नौटंकियों में होने वाले कुछ प्रहसनों में पहले दलितों, पिछड़ों और स्त्रियों का किस कदर मज़ाक उड़ाया जाता था। वह सामन्ती निरंकुशता की संस्कृति थी। अब हम एक सर्वव्यापी बुर्जुआ निरंकुशता की संस्कृति के रुबरू हैं। उत्तर-औपनिवेशिक समाजों का जो रुग्ण-बौना पूँजीवाद है, इसके पास मानववाद और जनवाद के स्वस्थ-सकारात्मक मूल्य हैं ही नहीं, क्योंकि यह पुनर्जागरण-प्रबोधन जनवादी क्रान्ति का वारिस है ही नहीं।

बहरहाल, विषय की गम्भीरता में जाने की ज़रूरत नहीं है। हँसो। सभी हँस रहे हैं। टी.वी. पर हँस रहे हैं। सिनेमा में हँस रहे हैं (सालाना बनने वाली हँसने-हँसाने वाली फ़िल्मों का कारोबार तो देखो!)।

हँसो कि शीतलहर के कहर से देश में मरनेवालों का आँकड़ा पाँच सौ के पार चले जाने का अन्देशा है। हँसो यह जानकर कि इस ठण्ड में दिल्ली पुलिस ने कितनी झुग्गी-बस्तियाँ उजाड़ डालीं। न सिर्फ़ अरहर दाल की कीमत सौ रुपये किलो के ऊपर जा पहुँची है बल्कि प्याज, आलू, चावल, आटा सारी चीज़ों के भाव आसमान छू रहे हैं, हँसो। बाल्को की चिमनी गिरने से कितने मज़दूर मरे और चम्बल नदी पर बनते पुल के ढहने से कितने मरे, यह जानो और हँसो। हिन्दुस्तान में प्रति मिनट कितनी स्त्रियों के साथ बलात्कार होता है और कितनी जलायी जाती हैं, पता लगाओ और हँसो। प्रति वर्ष जगही-ज़मीन से उपड़ने वालों की संख्या का पता लगाओ और हँसो। पचास-साठ रुपये पर खटने वाले दिहाड़ी मज़दूरों के काम के घण्टों और हालात का पता लगाओ और हँसो। हँसो कि हँसने के लिए मसाले बहुत हैं। अर्चना पूरन सिंह, नवजोत सिंह सिद्धू को देखो, कितना मुँह फाड़कर हँस रहे हैं। सोनिया गाँधी, मनमोहन सिंह, चिदम्बरम, आडवाणी मुस्कराहट और हल्की हँसी से काम चला लेते हैं। वे बड़े लोग हैं। तुम मामूली आदमी हो, इसलिए पुक्का फाड़कर हँसो। तुम्हारे लिए अरबों की लागत से हँसी का इतना बड़ा बाज़ार लगा है। हँसो। हँसने से तुम्हारा ब्लड प्रेशर नीचे आयेगा, चैनलों की टी.आर.पी. रेटिंग ऊपर हो जाएगी। कर भला, हो भला।

इतना हँसो कि सोचने के लिए न समय बचे, न दिमाग़। आँखें भींचकर हँसो ताकि आसपास की कोई चीज़ दिखायी न दे। टी.वी. पर हँसी-ख़ुशी है। टी.वी. कार्यक्रमों की समीक्षा लिखते हुए सुधीश पचौरी भाषा से खिलन्दड़ापन करते हुए हँस रहे हैं। उनकी भाषा भी हँस रही है। सामसुंग के सहकार से टैगोर साहित्य पुरस्कार देने की घोषणा करते हुए साहित्य अकादमी का चेयरमैन और सामसुंग का नुमाइन्दा हँस रहे हैं।

टी.वी. से लगता है पूरा देश हँस रहा है। लेकिन बीस रुपये रोज़ के नीचे जीने वाले 84 करोड़ लोग, और उनमें से भी ख़ासकर ग्यारह रुपये रोज़ पर जीने वाले 27 करोड़ लोग पता नहीं कैसे और कितना हँस पा रहे होंगे! 25 करोड़ बेरोज़गार कितना हँस पा रहे होंगे! कुपोषण और भूख के शिकार करोड़ों बच्चों की माँएँ कितना हँस पा रही होंगी! पर ऊपर के जिन पन्द्रह करोड़ लोगों के लिए सारी चीज़ों का हँसता हुआ बाज़ार है, वे खा रहे हैं और हँस रहे हैं। पाद रहे हैं और हँस रहे हैं। कभी-कभी शेयर के भाव गिरने से उनका ब्लड प्रेशर चढ़ जाता है तो उनकी हँसी रुक जाती है। फिर वे 'लाफ़्टर योगा' करने लगते हैं और ज़बरदस्ती हँसने लगते हैं। जो नीचे के लोग हैं, वे भी कभी-कभी तनाव और मुसीबतों का बोझ हल्का करने को हँस लेते हैं। पर उतना नहीं, जितना हँसने के लिए टी.वी. कह रहा है। उन्हें हँसी खरीदनी नहीं पड़ती। इसलिए उन्हें हँसी के बाज़ार की ज़रूरत नहीं। एक बीच वाला आदमी है, जो न नीचे वाले की तरह हँस पाता है, न ऊपर वाले की तरह। वह टी.वी. की हँसी से संक्रमित होकर हँसना चाहता है, तबतक उसका ध्यान अपनी सस्ती पुरानी टी.वी. पर और फिर आसपास की चीज़ों पर चला जाता है और उसकी हँसी घुट जाती है। वह लाफ़्टर क्लब वालों के बीच जाकर हँसना चाहता है, पर उसमें शामिल बूढ़ों के लाल-लाल गाल देखकर कुण्ठित हो जाता है। सहसा उसका ध्यान जाता है कि उसके नहीं हँसने पर लोगों का ध्यान जा रहा है और

वह अजीब-अजीब आवाज़ें निकालता हुआ ज़बरदस्ती हँसने लगता है।

हाँ महोदय, अगर आप आम आदमी हैं और नहीं हँस रहे हैं तो इसका मतलब यह है कि आप कुछ सोच रहे हैं। या फिर आप उनके साथ खड़े हैं जो चाहकर भी उतना और उस कदर नहीं हँस सकते, जिस तरह राजू श्रीवास्तव के चुटकुलों पर सिद्धू हँसते हैं। या आप उनमें से एक हैं जो ज़्यादा वजन और रक्तचाप की शिकायत नहीं होने के कारण 'लाफ़्टर योगा' की ज़रूरत और महत्ता नहीं समझते। इसलिए अगर आप नहीं हँस रहे हैं तो आपको एक ख़तरनाक या असामाजिक तत्त्व या नक्सली तक समझा जा सकता है। आपका 'एनकाउण्टर' तक हो सकता है। इसलिए हँसो, जैसाकि रघुवीर सहाय ने काफ़ी पहले ही आगाह करते हुए कह दिया था :

"हँसो हँसो जल्दी हँसो

हँसो तुम पर निगाह रखी जा रही है

हँसो अपने पर न हँसना क्योंकि उसकी कड़वाहट
पकड़ ली जायेगी
और तुम मारे जाओगे
ऐसे हँसो कि बहुत ख़ुश न मालूम हो
वरना शक होगा कि यह शख़्स शर्म में शामिल नहीं
और मारे जाओगे

हँसते-हँसते किसी को जानने मत दो किस पर हँसते हो
सब को मानने दो कि तुम सब की तरह परास्त होकर
एक अपनापे की हँसी हँसते हो
जैसे सब हँसते हैं बोलने के बजाय

जितनी देर ऊँचा गोल गुम्बद गूँजता रहे, उतनी देर
तुम बोल सकते हो अपने से
गूँज थमते-थमते फिर हँसना
क्योंकि तुम चुप मिले तो प्रतिवाद के जुर्म में फँसे
अन्त में हँसे तो तुम पर सब हँसेंगे
और तुम बच जाओगे

हँसो पर चुटकुलों से बचो
उनमें शब्द हैं
कहीं उनमें वे अर्थ न हो
जो किसी ने सौ साल पहले दिये हों

बेहतर है कि जब कोई बात करो तब हँसो
ताकि किसी बात का कोई मतलब न रहे
और ऐसे मौक़ों पर हँसो
जो कि अनिवार्य हों
जैसे ग़रीब पर किसी ताक़तवर की मार
जहाँ कोई कुछ कर नहीं सकता
उस ग़रीब के सिवाय
और वह भी अक्सर हँसता है

हँसो हँसो जल्दी हँसो
इसके पहले कि वह चले जायें
उनसे हाथ मिलाते हुए
नज़रें नीची किए
उसको याद दिलाते हँसो
कि कल तुम भी हँसे थे।

कवि रघुवीर सहाय को बुर्जुआ समाज में हँसी की किस्मों के बारे में, उसकी आवश्यकता और विवशता के बारे में सबसे गहरी जानकारी थी। यदि आप निम्न मध्यवर्ग के सामान्य आदमी हैं और अध्ययन या कामकाज के लिए अकादमिक दुनिया, सांस्कृतिक दुनिया, मीडिया, एन.जी.ओ. के दफ़्तरों आदि में आपका आना जाना होता हो और वहाँ के स्वयं को सुसंस्कृत-संवेदनशील दिखाने वाले शक्तिशाली-प्रभावशाली अघाये लोगों की मण्डलियों-बैठकियों में कभी उठने-बैठने का अवसर मिल जाये तो रघुवीर सहाय की यह कविता आपको ज़रूर याद आयेगी :

निर्धन जनता का शोषण है
कहकर आप हँसे
लोकतन्त्र का अन्तिम क्षण है
कहकर आप हँसे
सबके सब भ्रष्टाचारी
कहकर आप हँसे
चारों ओर बड़ी लाचारी
कहकर आप हँसे
कितने आप सुरक्षित होंगे
मैं सोचने लगा
सहसा मुझे अकेला पाकर
फिर से आप हँसे

ऐसी ही एक बैठक में कई शीर्ष सरकारी अधिकारी कवि-लेखक; कुछ वरिष्ठ मीडियाकर्मी, कुछ प्रोफ़ेसर और कुछ एन.जी.ओ. चलाने वाले बैठकर स्कॉच की चुस्कियों के साथ देश के हालात पर बातचीत कर रहे थे। उनका मानना था कि इस देश में एक 'सोशल रिवोल्यूशन' बेहद ज़रूरी है। मुझे किसी कार्यवश उसमें घुस बैठने का अवसर मिला। लगातार मुझे रघुवीर सहाय की उपरोक्त कविता याद आती रही, सताती रही।

दिल्ली में जब भी कभी किसी भव्य सभागार में राजनीतिक-सामाजिक विषयों पर मन्थन के साथ चर्वण-भक्षण का समाँ दीखता है तो रघुवीर सहाय की एक और कविता बेसाख़्ता जेहन में घुसकर धमाचौकड़ी करने लगती है :

महासंघ का मोटा अध्यक्ष
धरा हुआ गद्दी पर खुजलाता है उपस्थ
सर नहीं,
हर सवाल का उत्तर देने से पेश्तर
बीस बड़े अख़बारों के प्रतिनिधि पूछें पचीस बार
क्या हुआ समाजवाद
कहें महासंघपति पचीस बार हम करेंगे विचार
आँख मारकर पचीस बार वह, हँसे वह, पचीस बार
हँसे बीस अख़बार
एक नयी ही तरह की हँसी यह है
पहले भारत में सामूहिक हास परिहास तो नहीं ही था।
जो आँख से आँख मिला हँस लेते थे
इसमें सब लोग दायें-बायें झाँकते हैं
और यह मुँह फाड़कर हँसी जाती है।
राष्ट्र को महासंघ का यह सन्देश है
जब मिलो तिवारी से – हँसो – क्योंकि तुम भी तिवारी हो
जब मिलो शर्मा से – हँसो – क्योंकि वह भी तिवारी है
जब मिलो मुसद्दी से
खिसियाओ
जातपाँत से परे
रिश्ता अटूट है
राष्ट्रीय झेंप का।

(नयी हँसी)

पाश की कविता के कुछ शब्दों को बदलकर मैं यूँ कहना चाहूँगा : 'सबसे ख़तरनाक होता है विचारहीन हँसी का होना।' यदि आप विचारहीन हँसी हँसते हैं तो आप अपने परिवेश से असम्पृक्त एक नितान्त आत्मकेन्द्रित और स्वेच्छाचारी प्रकृति के व्यक्ति हैं। जहाँ तक आपकी औक़ात होगी, आप तानाशाही करेंगे और तानाशाह की सत्ता को खुशी-खुशी स्वीकार करेंगे। इसलिए मेरे भाई, हँसो। हँसना तो मानवीय गुण है। पर एक विचारहीन हँसी मत हँसो। विचारहीन हँसी निरंकुश स्वेच्छाचारिता की उपस्थिति का, या फिर अपनी ही नियति से अपरिचित शुतुरमुर्गी प्रवृत्ति का अहसास दिलाती है। विचारहीन हँसी डराती है, जैसा कि कात्यायनी की यह कविता बताती है:

हमारे-आपके जैसे ही लोग थे
वे
जो हँस रहे थे।
वैसे भी कहाँ हँसना हो पाता है
इन दिनों
इस तरह एक साथ।
वे हँस रहे थे
तो
हमें भी हँसना चाहिए था
या
कम से कम खुश होना चाहिए था
कि
वे हँस रहे थे।
पर डरा रहे थे
वे
झुरझुरी-सी हो रही थी
रीढ़ की हड्डी में।
वहाँ से हटने पर भी
एक गहरी उदासी घेरे रही
आत्मा तक को सँवलाती हुई
बीच-बीच में
गुस्सा बेहिसाब।
चिन्ता निरुपाय।
याद करके भी वह दृश्य
कँपकँपी छूट जाती थी
कि
वे हँस रहे थे
और
हँसते हुए उनकी आँखें नहीं थीं।

(उनका हँसना)

हँसी के पीछे यदि दृष्टि हो, यदि आप व्यवस्था की विसंगतियों-क्रूरताओं और बुर्जुआ समाज में आम आदमी की त्रासद नियति तो कलात्मक सृजन की दुनिया में हँसी एक हथियार हो सकती है। जैसे चार्ली चैप्लिन की 'गोल्ड रश,' 'मॉडर्न टाइम्स,' और 'द ग्रेट डिक्टेटर' जैसी फ़िल्में। सत्ताधारी की खिल्ली उड़ाते हुए हँसना साहस का परिचायक है। अपनी त्रासद नियति पर, बिना दयनीय बने हँसना, विवेक का परिचायक है। यह हमें सोचने की उन्नततर मंज़िल में जाने को प्रेरित करता है। यह 'कैथार्सिस' की मन:स्थिति बनाता है।

विचारहीन हँसी का अतिरेक हमें नंगा राजा* के जालिम शासन को स्वीकारने के लिए तैयार करता है। यह वर्चस्व (हेजेमनी) की राजनीति का एक सांस्कृतिक हथकण्डा है। किसी दिन जब कोई बच्चे जैसी सादगी के साथ राजा को नंगा बताते हुए हँस पड़ेगा तो सारे लोग हँस पड़ेंगे और राजा को इतना गुदगुदायेंगे कि राजा हँसते-हँसते मर जायेगा। यह भी हँसी का एक रूप है। ऐसा पीढ़ियों बाद हुआ करता है। लेकिन इसकी कल्पनामात्र से वे डरते हैं जो आम लोगों को विचारहीन हँसी हँसाते रहने के लिए आज हँसी का सार्वभौमिक बाजार बनाते हैं और अपनी चाल को सफल होते देख आम लोगों पर हँसते हैं।

---

* देखें, 'नंगा राजा' कहानी, इसी अंक में पृष्ठ 38 पर